उनके समझने-समझाने में बहुत सुधार की आवश्यकता है। मुझे आशा है कि केशी, वृषभ या ऋषभ तथा वातरशना मुनियों के वेदोत्तरीय समस्त उल्लेखों के गूढ़ अध्ययन से इस विषय के रहस्य का पूर्णतः उद्घाटन हो सकेगा। क्या ऋग्वेद (४/५८/३) के 'त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यानाविवेश' का यह अर्थ नहीं हो सकता कि त्रिधा (ज्ञान, दर्शन और चरित्र से) अनुबद्ध वृषभ ने धर्म-घोषणा की और वे एक महान् देव के रूप में मर्त्यों में प्रविष्ट हुए? इसी संबंध में ऋग्वेद के शिश्नदेवों (नग्न देवों) वाले उल्लेख भी ध्यान देने योग्य हैं (ऋ० वे०/७/२१/५/एवं १०/९९/३)। इस प्रकार ऋग्वेद में उल्लिखित वातरशना मुनियों के निर्ग्रन्थ साधुओं तथा उन मुनियों के नायक केशी मुनि का ऋषभदेव के साथ एकीकरण हो जाने से जैनधर्म की प्राचीन पाम्परा पर बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। वेदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों के बीच बहुत मतभेद है। कितने ही विद्वानों ने उन्हें ई० सन् से ५००० वर्ष या उससे भी अधिक पूर्व रचा गया माना है। किन्तु आधुनिक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों का बहुमत यह है कि वेदों की रचना उसके वर्तमानरूप में ई० पूर्व सन् १५०० के लगभग हुई होगी। यहाँ वेदों में ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना जाता है। अतः यदि ऋग्वेद की ऋचाओं में ही वातरशना मुनियों तथा 'केशी ऋषभदेव' का उल्लेख होने से जैनधर्म को अपने प्राचीन रूप में ई० पूर्व सन् १५०० में प्रचलित मानना अनुचित न होगा। 'केशी' नाम जैनसम्प्रदाय में प्रचलित रहा, इसका प्रमाण यह है कि महावीर के समय में पार्श्व-सम्प्रदाय के नेता का नाम केशीकुमार था। (उत्तरा.२३)।

"इन वातरशना मुनियों की जो मान्यता व साधनाएँ वैदिक ऋचा में भी उल्लिखित हैं, उन पर से हम इस परम्परा को वैदिक परम्परा से स्पष्टतः पृथक् रूप से समझ सकते हैं। वैदिक ऋषि वैसे त्यागी और तपस्वी नहीं थे जैसे ये वातरशना मुनि थे। वे ऋषि स्वयं गृहस्थ हैं, यज्ञप्रधानी विधिविधान में आस्था रखते हैं और अपनी ऐहलौकिक इच्छाओं जैसे पुत्र, धन, धान्य आदि सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए इन्द्रादि देवी-देवताओं का आह्वान करते-कराते हैं, तथा इसके उपलक्ष्य में यज्ञकर्ता से धन-सम्पत्ति का दान स्वीकार करते हैं। किन्तु इसके विपरीत वातरशना मुनि उक्त क्रियाओं में रत नहीं होते। सम्भवतः गृह-द्वार, स्त्री-पुत्र, धन-धान्य आदि परिग्रह, यहाँ तक कि वस्त्र का भी परित्याग कर, भिक्षावृत्ति से रहते हैं। शरीर का स्नानादि संस्कार न कर मलधारण किये रहते हैं। मौनवृत्ति से रहते हैं, तथा अन्य देवी-देवताओं के आराधन से मुक्त आत्मध्यान में ही अपना कल्याण समझते हैं। स्पष्टः यह उस श्रमणपरम्परा का प्राचीन रूप है, जो आगे चलकर अनेक अवैदिक सम्प्रदायों के रूप में प्रगट हुई और जिनमें से दो अर्थात् जैन और बौद्ध सम्प्रदाय आज तक भी विद्यमान हैं। प्राचीन समस्त भारतीय साहित्य, वैदिक, बौद्ध व जैन तथा शिलालेखों में भी श्रमण

और श्रमण सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है। जैन एवं बौद्ध ग्रन्थ आज तक भी श्रमण कहलाते हैं। वैदिक परम्परा के धार्मिक गुरु कहलाते थे ऋषि, जिनका वर्णन ऋग्वेद में बहुतायत आया है। किन्तु श्रमणपरम्परा के साधुओं की संज्ञा मुनि थी, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में केवल उन वातरशना मुनियों के संबंध को छोड़ अन्यत्र कहीं नहीं आया। ऋषि-मुनि कहने से दोनों सम्प्रदायों का उद्गम सम्बन्ध जानना चाहिये। पीछे चलकर इन सम्प्रदायों का खूब आदान-प्रदान हुआ और दोनों शब्दों को प्रायः एक-दूसरे का पर्यायवाची माना जाने लगा।" (भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान/पृ.११-१८)।

शिश्नदेव—ऋग्वेद के दो सूक्तों में शिश्नदेवों अर्थात् नग्नदेवों की चर्चा है। यथा—

न यातव इन्द्र जूजुवुर्न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः।
स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः॥ ७/२१॥

अनुवाद—"हे इन्द्र! हे शक्तिमान् देव! न तो दुष्टात्माओं ने हमें अपने कुचक्रों से प्रेरित किया है, न राक्षसों ने। हमारा सच्चा देव हमारे शत्रुओं को वश में करे। शिश्नदेव हमारे पवित्र यज्ञ के समीप न आवें।"

स घा नः पीतपृष्ठया कशयाऽपीता परि षठत्रावित्सन्।
अवर्मा शरुमन्नदुग्रस्य वेदो लक्षिभिरन्धदेवाँ अभि ऋत्सेमा भूत्॥ १०/९९॥

अनुवाद—"वह (इन्द्र) आयत सुभगवर्ण से युद्ध के लिये जाता है। उसने स्वर्ग के प्रकाश को जीतने के लिए आयत कठिन परिश्रम किया, उसे पाने को वह बहुत उत्सुक था। उसने शिश्नदेवों को मारकर सौ द्वारों वाले दुर्ग को निधि पर अधिकार कर लिया।"

ए० एम० मैकडानल ने अपने ग्रन्थ वैदिक माइथोलॉजी में कहा है कि "शिश्नदेवों की पूजा ऋग्वेद के धार्मिक विचारों के प्रतिकूल रही होगी, क्योंकि उन्हें यज्ञस्थल में न आने देने के लिए इन्द्र से प्रार्थना की गयी है। ऋग्वेद में यह भी कहा गया है कि जब इन्द्र ने सौ द्वारोंवाले दुर्ग में खजाने को छिपा हुआ देखा, तब उसने शिश्नदेवों का संहार कर उस खजाने पर कब्जा कर लिया।" (देखिये, 'वैदिक माथोलॉजी' का एसकुमार राय-कृत हिन्दी अनुवाद/पृ.२९६)।

'शिश्नदेव' इस नाम वैदिकधर्म तथा शिश्नदेवों के वेदप्रतिकूल धर्म-दर्शन से स्पष्ट है कि ये नग्न देवों अर्थात् नग्न तीर्थंकरों की उपासना करनेवाले निर्ग्रन्थ साम्प्रदाय के लोग थे। पं० कैलाशचन्द शास्त्री ने लिखा है कि "प्रायः सभी विद्वानों ने 'शिश्नदेवाः' का अर्थ लिंग को देवता माननेवाले अर्थात् लिंगपूजक किया है। किन्तु इसका एक दूसरा अर्थ भी होता है—शिश्नमुक्त देवता को माननेवाले अर्थात् जो नंगे देवताओं को

वातरशन मुनियों के आदिनायक हो हो सकते हैं, जिनकी साधना में मलधारण, मौनवृत्ति और उन्माद भाव का विशेष उल्लेख है। सूक्त में आगे उन्हें ही 'मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः' (ऋ.वे. १०/१३६/४) अर्थात् देवदेवों के मुनि व उपकारी और हितकारी सखा कहा है। वातरशन शब्द में और मलरूपी वस्त्रावरण करने में उनकी नग्नत्वसूचना का भी संकेत है। इसकी भागवतपुराण ने ऋषभ के वर्णन से तुलना कीजिये—

"उन्मत्तवारोन्मादयतीह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज। जडान्धमूकबधिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेषोऽपि-भाषमाणोऽपि जनानां दुष्टजनप्रवेशजनितभूतावेशो बभूव। --- गगनकलम्बमाकुटिल-जटिलकपिशकेशभूरिभारोऽयधूसरितनिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत।" (भा.पु./५/५/२८,२९-३१/पृ.२११)।

"अर्थात् ऋषभ भगवान् के शरीरमात्र परिग्रह बच रहा था। वे उन्मत्त के समान दिगम्बरवेशधारी, बिखरे हुए केशों-सहित आहवनीय अग्नि को अपने में धारण करके ब्रह्मावर्त देश से प्रव्रजित हुए। वे जड, अन्ध, मूक, बधिर, पिशाचोन्मादयुक्त जैसी अवधूतवेष में लोगों के बुलाने पर भी मौनवृत्ति धारण किए हुए चुप रहते थे। --- सब ओर लटकते हुए अपने कुटिल, जटिल, कपिश केशों के भारसहित अवधूत और मलिन शरीरसहित वे ऐसे दिखाई देते थे, जैसे मानों उन्हें भूत लग गया हो।

"तथापि: यदि ऋग्वेद के उक्त केशीसंबंधी सूक्त को, तथा भागवतपुराण में वर्णित ऋषभदेव के चरित को सम्मुख रखकर पढ़ा जाय, तो पुराण में वेद के सूक्त का विस्तृत भाष्य किया गया सा प्रतीत होता है। वही वातरशन या गगनपरिधानमूर्ति केश-धारण, कपिश वर्ण, मलधारण, मौन और उन्मादभाव समान रूप से दोनों में वर्णित है। ऋषभ भगवान् के कुटिल केशों की परम्परा जैन मूर्तिकला में प्रायीकाल काल से आज तक अक्षुण्ण पाई जाती है। तथापि: समस्त तीर्थंकरों में केवल ऋषभ की ही मूर्तियों के सिर पर कुटिल केशों का रूप दिखलाया जाता है, और यही उनका प्राचीन विशेष लक्षण भी माना जाता है। इस संबंध में मुझे केशरियानाथ का स्मरण आता है, जो ऋषभनाथ का ही नामान्तर है। केस्या, केश और जट एक ही अर्थ के वाचक हैं 'सटा जटाकेसरयोः'। (विश्वलोचनकोश / टान्तवर्ग / ३०)। सिंह भी अपने केशों के कारण केसरी कहलाता है। इस प्रकार केशी और केसरी एक ही केशरीनामक या ऋषभनाथ के वाचक प्रतीत होते हैं। केसरियानाथ पर जो केसर चढ़ाने की विशेष परम्परा प्रचलित है, वह नाममात्र के कारण उत्पन्न हुई प्रतीत होती है। जैन पुराणों में भी ऋषभ की जटाओं का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। पद्मपुराण

(३/२८८) में वर्णन है-'जातोद्भूता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः' और हरिवंशपुराण (९/२०४) में उन्हें कहा है-'संयतस्यजटाधार-धारिष्णुः।' इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशन मुनि, तथा भागवतपुराण के ऋषभ और वातरशन-श्रमण-ऋषि एवं जैनसिद्धान्त ऋषभ तीर्थंकर और उनका दिगंबरश्रमणसंघ एक ही सिद्ध होते हैं।

"केशी और ऋषभ के एक ही पुरुषवाची होने के उक्त प्रकार अनुमान करने के पश्चात् हठात् मेरी दृष्टि ऋग्वेद की एक ऐसी ऋचा पर पड़ गई, जिसमें वृषभ और केशी का साथ-साथ उल्लेख आया है। वह ऋचा इस प्रकार है—

कक्कर्दवे वृषभो युक्त आसीद् अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुर्मर्षुवस्य दमकः महात्मा त्रिकद्रुकेषु तपति प्रयत्सु॥

(ऋग्वेद / १०/१०२/६)।

"जिस सूक्त में यह ऋचा आई है उसकी प्रस्तावना में सायण के जो 'मुद्गलस्य हि गावः' आदि श्लोक उद्धृत किए गए हैं, उनके अनुसार मुद्गल ऋषि की गौओं को चोर चुरा ले गए थे। उन्हें खोजने के लिए ऋषि ने केशी वृषभ को अपना सारथी बनाया, जिसके वाहन मरुत् थे। ये गौएँ आगे को न भागकर पीछे की ओर लौट पड़ीं। प्रस्तुत ऋचा का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने पहले तो वृषभ और केशी का आलादि पृथक् व्याख्यान किया है, किंतु फिर प्रकारान्तर से उन्होंने कहा है—

"अथवा, अस्य सारथिः महाषभूतः केशी प्रकृष्टकेशो वृषभः अवावचीत् अधोमुखोऽवदत्" इत्यादि।

"सायण के इसी अर्थ को तथा सिरुक के उक्त कथा-प्रसंग को भारतीय दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत गाथा का मुझे यह अर्थ प्रतीत होता है—

"मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ, जो शत्रुओं का विनाश करने के लिए तैयार थे, उनके पास निकले, जिसके फलस्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौएँ (इन्द्रियाँ) जुते हुए दुर्मर्ष रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थीं, वे निष्फल होकर मौनावस्था (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ीं।

"तात्पर्य यह कि मुद्गल ऋषि की जो इन्द्रियाँ बहिर्मुखी थीं, वे उनके योगपुरुष होने केशी वृषभ के वाग्वैभवपूर्ण उपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गईं।

"इस प्रकार केशी और वृषभ या ऋषभ के एकत्व का स्वयं ऋग्वेद से ही पूर्णतः समर्थन हो जाता है। विद्वान् इस एकीकरण पर विचार करें। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि वेदों का अर्थ करने में विद्वान् अभी पूर्णतः सफल नहीं हो सके हैं। विशेषतः वेदों की जैसी भारतीय संस्कृति में पवित्रता है, उसकी दृष्टि से तो अभी

है। जैसे ये जैनियों के आदि तीर्थंकर हैं, उसी प्रकार ये हिन्दुओं के लिए साक्षात् भगवान् विष्णु के अवतार हैं। उनके ईश्वरावतार होने की मान्यता प्राचीनकाल में इतनी बद्धमूल हो गयी थी कि शिवमहापुराण में भी उन्हें शिव के अट्ठाईस योगावतारों में गिनाया गया है (शिवमहापुराण / ७ / २ / ९)। दूसरी बात यह है कि प्राचीनतर में राम अवतार राम और कृष्ण के अवतारों में भी पूर्ण कर माना गया है। इस अवतार का जो हेतु भागवतपुराण में बतलाया गया है उससे ब्राह्मणधर्म की परम्परा भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से निःसन्देहरूप से जुड़ जाती है। ऋषभावतार का हेतु वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्म को प्रकट करना बतलाया गया है। भागवतपुराण में यह भी कहा गया है कि-'अवतारो रजसोपप्लुत-कैवल्योपशिक्षणार्थः' (भा.पु. / ५ / ६/११)।

"अर्थात् भगवान् का यह अवतार रजोगुण से भरे हुए लोगों को कैवल्य की शिक्षा देने के लिए हुआ। किन्तु उक्त वाक्य का यह अर्थ भी संभव है कि यह अवतार रज से उपप्लुत अर्थात् रजोगुण (मलधारण) वृत्ति द्वारा कैवल्यार्थियों को शिक्षा देने के लिए हुआ था। जैन मुनियों के आचार में अस्नान, अदन्तधावन, मलधारण आदि द्वारा रजोगुण संयम का आवश्यक अंग माना गया है। बुद्ध के समय में भी रजोजल्लिक श्रमण विद्यमान थे। बुद्ध भगवान् ने श्रमणों को आचार-प्रणाली में व्यवस्था करते हुए एक बार कहा था—

"नाहं भिक्खवे संघाटिकस्स संघाटिधारणमत्तेन सामञ्ञं वदामि, अचेलकस्स अचेलकत्तेन रजोजल्लिकस्स रजोजल्लिकत्तेन --- जटिलकस्स जटाधारणमत्तेन सामञ्ञं वदामि।" (मज्झिमनिकाय / ४०)।

"अर्थात् हे भिक्षुओ! मैं संघाटिक के संघाटी-धारणमात्र से श्रामण्य नहीं कहता, अचेलक के अचेलकत्वमात्र से, रजोजल्लिक के रजोजल्लिकत्व-मात्र से और जटिलक के जटाधारण-मात्र से भी श्रामण्य नहीं कहता।

"अब प्रश्न यह होता है कि जिन वातरशन मुनियों के धर्मों को स्वयं करते तथा रजोजल्लिक वृत्ति द्वारा कैवल्य की प्राप्ति दिखाने के लिये भगवान् ऋषभदेव का अवतार हुआ था, वे कब से भारतीय साहित्य में उल्लिखित पाये जाते हैं। इसके लिये जब हम भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों को देखते हैं, तो हमें वहाँ भी वातरशन मुनियों का उल्लेख अनेक स्थलों में दिखाई देता है।

"ऋग्वेद की वातरशन मुनियों के संबंध की ऋचाओं में उन मुनियों की साधनाएँ ध्यान देने योग्य हैं। एक सूक्त की कुछ ऋचाएँ देखिये—

मुनयो वातरशनाः पिशंगा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥

उन्मदिता मौनेयेन वातां आ तस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ॥

(ऋग्वेद / १०/१३६/१-२)।

"विद्वानों के नाना प्रयत्न होने पर भी अभी तक वेदों का निसंदेहरूप से अर्थ कैसा संभव नहीं हो सका है। तथापि स्वयंप्रकाश की सहायता से मैं उक्त ऋचाओं का अर्थ इस प्रकार करता हूँ—अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशन मुनि मल धारण करते हैं, जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राप्तसाधना द्वारा प्राप्त कर लेते हैं, अर्थात् रोक लेते हैं, तब वे अपनी तप की महिमा से दीप्यमान होकर देवतास्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। सर्व लौकिक व्यवहार को छोड़कर हम मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् (उत्कृष्ट आनन्दसहित) वायुभाव (अशरीरी ध्यानवृत्ति) को प्राप्त होते हैं, और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीरमात्र को देख पाते हो, हमारे सच्चे आभ्यंतर स्वरूप को नहीं (ऐसा वे वातरशन मुनि प्रकट करते हैं)।

"ऋग्वेद में उक्त ऋचाओं के साथ 'केशी' की स्तुति की गई है—

केशीदग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥ (१०/१३६/१)।

"केशी अग्नि, जल तथा स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्त्वों का दर्शन कराता है। केशी ही प्रकाशमान ज्योति (केवलज्ञान) कहलाता है।

"केशी की यह स्तुति उक्त वातरशन मुनियों के वर्णन आदि में की गई है, जिससे प्रतीत होता है कि केशी वातरशन मुनियों के वर्णन के प्रधान थे।

"ऋग्वेद के इन केशी व वातरशन मुनियों तथा साधनाओं को भागवतपुराण में अक्षरशः वातरशन श्रमण ऋषि, उनके अभिप्रायक श्रमण और उनकी साधनाओं की तुलना करने योग्य है। ऋग्वेद के वातरशन मुनि और भागवत के 'वातरशन श्रमण ऋषि' एक ही सम्प्रदाय के वाचक हैं, इसमें तो किसी को किसी प्रकार का सन्देह होने का अवकाश नहीं दिखाई देता है। केशी का अर्थ केशधारी होता है, जिसका अर्थ सायणाचार्य ने 'केशरूपीय रश्मियों को धारण करनेवाले' किया है, और उससे सूर्य का अर्थ निकाला है। किन्तु उसकी कोई सार्थकता व संगति वातरशन मुनियों के साथ नहीं बैठती, जिनकी साधनाओं का उस सूक्त में वर्णन है। केशी स्पष्टतः

है। पं० दलसुख मालवणिया ने लिखा है-"वैदिक दर्शनों के अनुयायी जब छह दर्शनों की चर्चा करते हैं, तब वे छह दर्शनों में केवल वैदिक दर्शनों (न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और पूर्व एवं उत्तर मीमांसा) का ही समावेश करते हैं। किन्तु, प्रस्तुत 'षड्दर्शनसमुच्चय' में वैदिक-अवैदिक सब मिलाकर (दर्शनों की) छह संख्या है।" (षड्दर्शनसमुच्चय/प्रस्ता. पृ.३)। तात्पर्य यह कि न्याय, वैशेषिक आदि छह दर्शन भी वैदिकदर्शन के ही नाम से प्रसिद्ध है।

इन प्रमाणों के आधार पर प्रस्तुत अध्याय में वेद, उपनिषद् आदि के अतिरिक्त वेदानुयायी धार्मिकग्रन्थ रामायण, महाभारत तथा पुराण आदि को वैदिक-साहित्य के नाम से अभिहित किया गया है तथा संस्कृत में लिखित जिन साहित्य में मान्यताविशेष सिद्धान्तों के प्रतिपादन को प्रधानता न होकर काव्यात्मकता की प्रधानता है, उस गद्य-पद्य-नाटकरूप साहित्य एवं कला-शिल्प-विषयक साहित्य को संस्कृतसाहित्य में परिभाषित किया गया है। इन दोनों प्रकार के साहित्यों से एक ही शीर्षक के अन्तर्गत कालक्रमानुसार उद्धरण दिये जा रहे हैं।

वैदिकसाहित्य एवं संस्कृतसाहित्य में ऋग्वेद से लेकर १९वीं शताब्दी ई० तक के लंबे समय में अधिक ग्रन्थों में दिगम्बरजैन मुनियों का उल्लेख किया गया है। एक पुराण में श्वेताम्बर मुनियों को भी चर्चा है। जिन ग्रंथों में ये उल्लेख हैं, उनके रचनाकाल तथा जिन ऐतिहासिक या पौराणिक कालन-खण्डों के साथ उनका वर्णन किया गया है, उनके आधार से दिगम्बर-जैनमत की प्राचीनता का निरूपण किया जा सकता है।

दिगम्बरमत के ग्रंथों में बतलाया गया है कि दिगम्बरजैन मुनि यथाजातरूपधर (जन्म के समय जैसा रूप होता है, वैसे सर्ववस्त्रनिर्वेष्टनरूप को धारण करनेवाले) होते हैं, उनके हाथ में मयूरपिच्छी होती है तथा जब कोई उनकी वन्दना करता है, तब वे उसे 'धर्मवृद्धि हो' यह आशीर्वाद देते हैं। इसी प्रकार श्वेताम्बरमत ग्रन्थों में श्वेताम्बरमुनि को कल्प, पात्र, मुखवस्त्रिका, रजोहरण, कम्बल आदि अनेक उपकरणों का धारी तथा 'धर्मलाभ' का आशीर्वाद देनेवाला घोषित किया गया है। वैदिकसाहित्य एवं संस्कृतसाहित्य में दिगम्बर और श्वेताम्बर मुनि इसी रूप में चित्रित किये गये हैं। इन दोनों साहित्यों को मिश्रित कर उनसे कालक्रमानुसार उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

१
ऋग्वेद में वातरशन मुनि, वृषभ, शिश्नदेव

वैदिकसाहित्य के प्रमुख ग्रन्थ ऋग्वेद की रचना कम से कम १५०० ई० पू० में मानी गई है। उसमें दिगम्बरजैन मुनियों का उल्लेख मिलता है। इस पर इसके

जानते हुए डॉ० हीरालाल जी जैन भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान नामक ग्रन्थ में लिखते हैं—

"भागवतपुराण के पाँचवें स्कंध के प्रथम छह अध्यायों में ऋषभदेव के चरित्र, जीवन व उपदेशों का वृत्तान्त पाया है, जो उनमें मुख्य-मुख्य बातों में जैन पुराणों से मिलता है। उनके भक्ति-चित्र के कुछ शब्द और वाक्यांश पाये जाते हैं, तथा उन्हें स्वयंभू मनु की पाँचवीं पीढ़ी में इस क्रम से हुए कहा गया है—स्वयंभूमनु, प्रियव्रत, आग्नीध्र, नाभि और ऋषभ। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज्य देकर संन्यास ग्रहण किया। वे नग्न रहने लगे और केवल शरीरमात्र ही उनके पास था। लोगों द्वारा धिक्कार किये जाने, गाली-गलौच किये जाने व पीटे जाने पर भी वे मौन ही रहते थे। अपने कठोर तपश्चरण द्वारा उन्होंने कैवल्य की प्राप्ति की, तथा दक्षिण कर्नाटक इस नाम प्रदेशों में परिभ्रमण किया। वे कुटकाचल पर्वत के वन में उन्मत्त की नाईं जड़रूप में विचरने लगे। फिर वहाँ से वन में आग लग गई और उसी में उन्होंने अपने को भस्म कर डाला।

"भागवतपुराण में यह भी कहा गया है कि ऋषभदेव के इस चरित्र को सुनकर कौंक, वेंक व कुटक का राजा अर्हत् कलियुग में अपनी इच्छा से उसी धर्म का प्रवर्तन करेगा, इत्यादि। इस वर्णन से इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि भागवतपुराण का उल्लेखित जैन पुराणों के ऋषभ तीर्थंकर से ही है, और अर्हत् राजा द्वारा प्रवर्तित धर्म का अभिप्राय जैनधर्म से। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि भागवतपुराण तथा वैदिक साहित्य के अन्य प्राचीन ग्रन्थों में ऋषभदेव के संबंध की बातों की कुछ जाँच पड़ताल की जाय। भागवतपुराण में कहा गया है कि—

"बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त! भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावतार।" (भा.पु./५/३/२०)।

"हे विष्णुदत्त परीक्षित! यज्ञ में परम ऋषियों द्वारा प्रसन्न किये जाने पर स्वयं श्री भगवान् (विष्णु) महाराज नाभि का प्रिय करने के लिये उनके अन्तःपुर में महारानी मेरुदेवी के गर्भ में आए। उन्होंने इस पवित्र अवतार में (शुक्लत्व धारण) अवधूत वातरशन श्रमण ऋषियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से यह तन धारण किया।"

"भागवतपुराण के इस कथन में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं, क्योंकि उनमें भगवान् ऋषभदेव के भारतीय संस्कृति में स्थान तथा उनकी प्राचीनता और ऐतिहासिक परंपरा से बड़ा घनिष्ठ और महत्त्वपूर्ण संबंध है। एक तो यह कि ऋषभदेव की वातरशन और श्रमणत्व के संबंध में जैन और हिन्दुओं के बीच कोई मतभेद नहीं

चतुर्थ अध्याय

जैनेतर साहित्य में दिगम्बरजैन मुनियों की चर्चा

प्रथम प्रकरण

वैदिकसाहित्य एवं संस्कृतसाहित्य में दिगम्बरजैन मुनि

दिगम्बरजैनमत की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए अब मैं जैनेतरसाहित्य से प्रमाण प्रस्तुत कर रहा हूँ। ये ऐसे प्रमाण हैं जो दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायों के ग्रन्थों की अपेक्षा दोनों से भिन्न वैदिक और बौद्ध परम्पराओं के ग्रन्थों तथा संस्कृतसाहित्य में उपलब्ध हैं। इन ग्रन्थों में सर्वथा सत्य है। उनमें किसी प्रकार के पक्षपात और कपट की शंका के लिए स्थान नहीं है। उक्त ग्रन्थों तथा संस्कृतसाहित्य में जैनमत की उत्पत्तिविषयक घटनाएँ अवश्य साम्प्रदायिक विद्वेषवश अतथ्य और भ्रमोत्पादक रूप से गढ़ी गई हैं, किन्तु जैन मुनियों का जो रूप उनमें वर्णित है वह दिगम्बर और श्वेताम्बर जैनपरम्पराओं के अनुरूप है।

यहाँ वैदिकसम्मत के ग्रन्थों को वैदिकसाहित्य और बौद्धसम्मत के ग्रन्थों को बौद्धसाहित्य नाम से अभिहित किया जा रहा है। वैदिकसम्प्रदाय का प्रचलित नाम हिन्दू-धर्म है। हिन्दूसम्प्रदाय वेदों का अनुयायी है, अतः उसका वास्तविक नाम वैदिक-सम्प्रदाय ही है। 'हिन्दू' शब्द तो प्राचीनकाल में सिन्धु नदी के आसपास के ईरानियों के द्वारा सिन्धु को सिन्धु नदी को 'हिन्दू' उच्चारित किये जाने के कारण प्रचलित हुआ है। (देखिये, डॉ० रामधारी सिंह 'दिनकर'-लिखित 'संस्कृति के चार अध्याय'/प्रकाशक ३/ पृष्ठ ७८)। वैदिकसम्प्रदाय के पुराणसाहित्य में वेदानुयायित्व और वेदबाह्यत्व के आधार पर ही धार्मिक सम्प्रदायों का विभाजन किया गया है। पुराणों में जैनों, बौद्धों और चार्वाकों को **वेदबाह्य** और **अवैदिक** कहा गया है तथा शेष प्राचीन भारतीय समुदाय को वैदिक। मत्स्यपुराण (३०० ई०) के '**जिनधर्म समाश्रित्य वेदबाह्यं स वेदयित्**' (२४/४७) तथा '**वेदबाह्यान् परित्यज्य**' (२४/४८) इन वाक्यों में जैनधर्म और जैनधर्मानुयायियों को "वेदबाह्य" विशेषण दिया गया है। इसी सत्य का अनुसरण करते हुए डॉ० बलदेव उपाध्याय 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (पृ.५९) में लिखते हैं— "राम वैदिक, बौद्ध तथा जैनधर्मों में समभाव से सर्वत्र पूज्य माने गये हैं।" इस तरह उपाध्याय जी ने हिन्दूसम्प्रदाय को वैदिकसम्प्रदाय के नाम से अभिहित किया

पश्चात् उससे अलग होकर दिगम्बरमत स्थापित करने की बात कही गयी है, उसकी कपोलकल्पितता स्वत: उद्घाटित हो जाती है।

३. इसी प्रकार भगवान् महावीर ने ऐकान्तिक अचेलधर्म का उपदेश न देकर सचेलाचेलधर्म का उपदेश दिया था और उत्तरभारत में एकमात्र वही परम्परा विद्यमान थी तथा उसके ही विभाजन से श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदाय उत्पन्न हुए थे, दिगम्बर-सम्प्रदाय की स्थापना तो विक्रम की छठी शती में दक्षिण भारत में आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा की गई थी, ये अवधारणाएँ भी अपने-आप मिथ्या सिद्ध हो जाती हैं।

महान् आश्चर्य तो यह है कि जिन आदरणीय श्वेताम्बराचार्यों एवं विद्वानों ने इन कल्पित मतों का आरोपण किया है, उन्होंने जैनेतर (वैदिक, संस्कृत एवं बौद्ध) साहित्य के उपर्युक्त उल्लेखों पर दृष्टिपात नहीं किया, जिनसे दिगम्बरजैन-परम्परा की अति प्राचीनता सिद्ध होती है। उन पर दृष्टिपात किये बिना ही अथवा उन्हें प्रच्छादित कर इन इतिहासविरुद्ध मतों की कल्पना कर डाली। मुनि श्री विजयानन्द सूरीश्वर 'आत्माराम' जी ने अवश्य 'महाभारत' का अनुशीलन कर 'नग्नक्षपणक' के उल्लेख का अन्वेषण किया, किन्तु दुर्भाग्य से उन्होंने अपने ही सम्प्रदाय के शास्त्रों में उपलब्ध प्रमाणों की अवहेलना कर उसे श्वेताम्बरपरम्परा का, जिनकल्पी मुनि घोषित कर दिया, जब कि सभी श्वेताम्बरीय एवं दिगम्बरीय शास्त्र तथा वैदिक, बौद्ध एवं संस्कृत ग्रन्थ एक स्वर से 'क्षपणक' शब्द का अर्थ 'दिगम्बर जैन मुनि' बतला रहे हैं। और मुनि श्री आत्माराम जी ने भी केवल 'महाभारत' का ही अनुशीलन किया, उपरिनिर्दिष्ट अन्य जैनेतर पुराण, संस्कृत नाटक, काव्य आदि तथा विशाल बौद्ध साहित्य के अध्ययन का कष्ट नहीं उठाया।

मुनि श्री कल्याणविजय जी तथा अन्य आधुनिक श्वेताम्बर विद्वानों ने महाभारत के उक्त उल्लेख पर भी ध्यान नहीं दिया, विभिन्न पुराण, पंचतंत्र, काव्य-नाटक, अंगुत्तर-निकाय, मज्झिमनिकाय, दीर्घनिकाय आदि बीस से अधिक अन्य जैनेतर एवं संस्कृत ग्रन्थों के अनुशीलन की तो बात ही दूर। ऐसा लगता है कि उन्होंने जान-बूझकर 'क्षपणक', 'निर्ग्रन्थ', 'अह्रीक', 'अचेल' आदि 'दिगम्बरजैनमुनि'-विषयक उल्लेखों को अन्धकार में रखने की चेष्टा की है, क्योंकि इनसे दिगम्बरजैन-परम्परा वैदिकयुग से भी पूर्ववर्ती सिद्ध होती है, जब कि वे इसे विक्रम की छठी शती (पंचम शताब्दी ई०) में आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रवर्तित सिद्ध करना चाहते थे।

जैनेतर भारतीय साहित्य में उपलब्ध ये उल्लेख दिगम्बरमत की प्राचीनता के ऐसे तटस्थ और स्पष्ट प्रमाण हैं, जिनमें पक्षपात या किसी प्रकार के कपट की शंका स्वप्न में भी नहीं की जा सकती। इन प्रमाणों से श्वेताम्बर मुनियों एवं पण्डितों द्वारा

दिगम्बरजैनमत को अर्वाचीन सिद्ध करने के लिए कल्पित किये गये पूर्वोक्त समस्त मिथ्यामत धराशायी हो जाते हैं, उनके कपोलकल्पित होने का यथार्थ प्रकट हो जाता है और दिगम्बरजैन-परम्परा की अतिप्राचीनता का सूर्य काल्पनिक मतों की घटाओं से मुक्त होकर चमकने लगता है।

परन्तु उससे अलग होकर दिगम्बरमत स्थापित करने की बात कहीं नहीं गयी है, उसकी काल्पनिकता स्वतः उद्घाटित हो जाती है।

३. इसी प्रकार भगवान् महावीर ने वैकल्पिक अचेलधर्म का उपदेश न देकर सचेलअचेलधर्म का उपदेश दिया था और उनके समय में एकमात्र वही परम्परा विद्यमान थी तथा उसके ही विभाजन से श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदाय उत्पन्न हुए थे, दिगम्बर-सम्प्रदाय की स्थापना तो विक्रम की छठी शती में दक्षिण भारत में आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा की गई थी, ये अवधारणाएँ भी अपने-आप मिथ्या सिद्ध हो जाती हैं।

महान् आश्चर्य तो यह है कि जिन आदरणीय श्वेताम्बराचार्यों एवं विद्वानों ने इन काल्पनिक मतों का आलेखन किया है, उन्होंने जैनेतर (वैदिक, संस्कृत एवं बौद्ध) साहित्य के उपर्युक्त उल्लेखों पर दृष्टिपात नहीं किया, जिससे दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय की अति प्राचीनता सिद्ध होती है। उन पर दृष्टिपात किये बिना ही अपना उन्हें प्रच्छादित कर इन इतिहासविरुद्ध मतों की कल्पना कर डाली। मुनि श्री विद्यानन्द सूरीश्वर 'अभयसागर' जी ने अवश्य 'महाभारत' का अनुशीलन कर 'वस्त्रपात्रकं' के उल्लेख का अन्वेषण किया, किन्तु दुर्भाग्य से उन्होंने अपने ही सम्प्रदाय के ग्रन्थों में उपलब्ध इनकी अवहेलना कर उसे श्वेताम्बरसम्मत कह, जिसकल्पी मुनि परिभाषित कर दिया, जब कि सभी श्वेताम्बरीय एवं दिगम्बरीय शास्त्र तथा वैदिक, बौद्ध एवं संस्कृत ग्रन्थ एक स्वर से 'क्षपणक' शब्द का अर्थ 'दिगम्बर जैन मुनि' बतला रहे हैं। और मुनि श्री अभयसागर जी ने भी केवल 'महाभारत' का ही अनुशीलन किया, उपनिषद्, अन्य जैनेतर पुराण, संस्कृत नाटक, काव्य आदि तथा विशाल बौद्ध साहित्य के अध्ययन का कष्ट नहीं उठाया।

मुनि श्री कल्याणविजय जी तथा अन्य आधुनिक श्वेताम्बर विद्वानों ने महाभारत के उक्त उल्लेख पर भी ध्यान नहीं दिया, विष्णु पुराण, पंचतंत्र, काव्य-नाटक, अंगुत्तर-निकाय, धम्मपदनिकाय, दीघनिकाय आदि बीस से अधिक अन्य जैनेतर एवं संस्कृत ग्रन्थों के अनुशीलन की तो बात ही दूर। ऐसा लगता है कि उन्होंने जान-बूझकर 'क्षपणक', 'निर्ग्रन्थ', 'अर्हत्', 'अर्हन्' आदि 'दिगम्बरजैनमुनि'-विषयक उल्लेखों को अन्धकार में रखने की चेष्टा की है, क्योंकि इनसे दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय वैदिकयुग में ही पूर्णतः सिद्ध होता है, जब कि वे इसे विक्रम की छठी शती (पंचम शताब्दी ई०) में आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रवर्तित सिद्ध करना चाहते थे।

जैनेतर भारतीय साहित्य में उपलब्ध ये उल्लेख दिगम्बरमत की प्राचीनता के ऐसे तटस्थ और स्पष्ट प्रमाण हैं, जिन्हें पक्षपात या किसी प्रकार के आग्रह की दृष्टि से भी नहीं की जा सकती। इन प्रमाणों से श्वेताम्बर मुनियों एवं पण्डितों द्वारा

दिगम्बरजैनमत को अर्वाचीन सिद्ध करने के लिए कल्पित किये गये पूर्वोक्त समस्त सिद्धान्त धराशायी हो जाते हैं, उनके कपोलकल्पित होने का यथार्थ प्रकट हो जाता है और दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय की आदिप्राचीनता का पूर्व काल्पनिक मतों की पट्टियों से ढक होकर चमकने लगता है।